'सूत्रधार' की रचना प्रक्रिया

संजीव

'बिदेसिया'! यों है तो यह महज एक संज्ञा ही लेकिन जब भी कोई इस शब्द का उच्चारण करता है, स्मृतियों की कुहरीली वादियों की धुन्ध से विजड़ित अनेक साये भटकते नजर आते हैं. कबाड़ी की तरह बचपन से ही चुनता रहा हूँ चित्रों और चरित्रों को. वे मेरे आसपास भी थे और दूर-दूर भी, गिरोह की भटकी भेड़-से या मेले में बिछड़े बच्चे-से, या ट्रेन में गाफिल पड़े मुसाफिर-से.

तुतरमुर्ग की कलँगी-सा टँगा होता छोटा-सा भाप-इंजन, माचिस के खोखे-से खुले वैगन, जिनसे तप्त स्लैग पिंड गिराते मजदूर. स्कूल जाते हुए उन्हें कुतूहल से देखता. वे न आसमान में होते, न जमीन पर, बीच में ही कहीं फँसे हुए-से. लुढ़काया गया स्लैग का चंक घर्षण के रगड़ाते शोर के साथ नीचे आता. खील-खील बिखरने में चिनगारियाँ होतीं स्मृतियों की वियोग दग्ध एकाकी प्रवासी जीवन—एह पार गंगा, ओह पार जमुना, बिचवा में पड़ि गइल रेत रे...!

'बिदेसी' को अपना बिसरा हुआ गाँव याद आता. याद आते माँ, बाप, भाई, भौजाई, प्रियजन, पुरजन, उनसे किये गये वादे, खाई गयी कसमें. याद आते घाट-पनघट, पोखर-पाकड़, बाग-ऊसर, नदी-नाले, खेत-खलिहान. याद आती लाल दुलहटी में लिपटी गुड़िया-सी वह बालिका वधू. लगता, अभी भी घूँघट की ओट से वे भरी-भरी कजरायी आँखें ताक रही हैं, समय की सरहदों के पार से.

डेढ़ सौ साल से प्रायः समूची हिन्दी पट्टी की एक-सी त्रासदी रही. अंग्रेजी हुकूमत, जमींदारी, सेठ-साहूकार, अमले-पेशकार और उनके अंधविश्वास, पंडे-पुजारी के चौतरफे शोषण से छटपटाते लोग. खेत नाकाफी, मजूरी नगण्य, सूखा, अकाल, महामारी ऊपर से—क्या खायें और खिलायें परिवार को जबाक गौने के बाद दुलहिन भी आ गयी है! एक ही उपाय था—परदेस जाकर मजूरी करने का. परदेस का उन दिनों एक ही मतलब था बंगाल और कोलकाता. कुछ कोयला खदानों, कारखानों, जूट मिलों, चाय बगानों में खप जाते; और कुछ गिरमिटिया मजूर बनाकर भेज दिये जाते सात समन्दर पार कभी न लौटने के लिए. बिसूरती रह जातीं आँखें—इस पार भी, उस पार भी. रेत की पर्त पर पर्त जमती जाती दोनों धाराओं के बीच.

ऐसे पात्र मेरे इर्द-गिर्द काफी थे. उनकी 'हूक' 'हांट' करती रहती मुझे. लगता, एक विकल विपंची की पीर है विरह-विदग्धा प्रियाओं की, जो झांझर झनदार ती, राजस्थान के रेगिस्तानों से झरती, हिमालय की उपत्यका से उतरती, विन्ध्य के पठारों पर बिछलती, गंगा-यमुना की लहरों पर तैरती हुई आती है और हजारों-लाखों टेरों में घुल-मिल जाती है—सभी एक ही दिशा की ओर पूरब! कोलकाता! इस पर टुकड़े-टुकड़े में तो मैंने और कइयों ने लिखा, मगर लगा यह बात टुकड़ों में नहीं कही जा सकती.

इसी सन्दर्भ में याद आये भिखारी ठाकुर जिनका नाम मैंने बचपन में देखा था. ग्रामोफोन पर बिदेसिया के रेकार्ड भी सुनता रहा था. वह लोकप्रियता कि पूछिये मत! न सिर्फ बिदेसिया के गीत लोगों को याद थे बल्कि बड़े बूढ़ों तक की औरतें भी इसे अपने ढंग से अपने बीच अभिनय करतीं. बच्चों के नाम भी 'बिदेशी', 'बटोही' और 'भिखारी' रखे जाते. मैं 'प्रवास की पीड़ा' के जिस विषय पर काम करना चाह रहा था, उसे महेन्दर मिसिर के गीतों और भिखारी के नाच ने पहले से ही उपजीव्य बना रखा था. महेन्दर मिसिर के साथ कुछ दूसरी चीजें भी रंगरेवाहों के रूप में जुड़ी हुई थीं, मगर भिखारी...? एक तो उपेक्षित माने जाने वाले नाई परिवार में जन्म, शिक्षा प्रायः नगण्य के बराबर, तीस साल की उम्र के बाद से काम शुरू किया लेकिन समाज की उन दिनों की कुछ सबसे ज्वलन्त समस्याओं को उठाया, जिन पर बात करने से भी लोग डरते. संगठक, लेखक, बहुरंगी अभिनेता (अभिनेत्री भी!), गायक, नर्तक, मूलगैन, सूत्रधार सब कुछ एक ही व्यक्ति. जातिगत द्वेष के शिकार होते हुए भी अपनी तमाम हीनताओं को मुँह चिढ़ाते हुए आगे ही आगे बढ़ता कलाकार! जितना ही सोचता, उतने ही महत्त्वपूर्ण होते गये भिखारी मेरे लिए.

राजेन्द्र यादव बराबर कोंचा करते—लिख क्यों नहीं डालते. इसलिए मानव संसाधन विकास मंत्रालय के संस्कृति विभाग की सीनियर फेलोशिप के मिलते ही मैंने काम शुरू कर दिया. मेरे सामने पहली चुनौती थी भिखारी ठाकुर की बीस से भी अधिक पोथियों और उनकी 'प्रामाणिक जीवनी' हासिल करना. दूसरी चुनौती थी उनके देश-काल को पकड़ना और यह सरल नहीं था. भिखारी-साहित्य पर निबन्ध-प्रबन्ध और समीक्षाएँ तो ढेरों थीं, मगर जो नहीं था, वह था उनका जीवन वृत्त और उनकी ज्यादातर रचनाएँ. गंगा, पुरानी गंगा, सरयू और सोन से घिरा हुआ नदियों की बदलती धाराओं के बीच उजड़-उजड़कर भाग-भागकर बसता भिखारी का गाँव कुतुबपुर. कई बार अकेले और कई बार मित्रों के साथ बीहड़ यात्राएँ कीं. भिखारी से जुड़े लोगों से मिलता. जिससे उनके बारे में पूछता, वह कुछ अपना भी उसमें जोड़ देता. दूसरा व्यक्ति जो बताता, वह पहले व्यक्ति की सूचनाओं से भिन्न होता. कोई उन्हें रसमलैंगिकता का उद्गाता बताता तो कोई बुद्ध या कबीर साहब का अवतार!

गंगा, पुरानी गंगा, सरयू, सोन, माही नदियाँ, सोनपुर के मेले से लेकर आरा, छपरा, सीवान, गोपालगंज, बलिया, पटना, कोलकाता राँची और कोयलांचल में भटकता रहा. प्रो. (डॉ.) तैयब हुसैन 'पीड़ित', भिखारी के दूर के रिश्तेदार रामदास राही, भिखारी के पुत्र शीलानाथ पौत्र राजेन्द्र; भतीजे गौरी शंकर, पुत्र शीलानाथ व और पोती के परिवार वालों और भिखारी के दिवंगत मित्र रामानन्द सिंह के परिवार के लोग, उसी गाँव के सरयू सिंह और कइयों का सहारा न मिला होता,

सुधीर सुमन और कथाकार मित्रों का सहयोग न मिलता तो सामग्री जुटा पाना मेरे लिए सम्भव न होता.

दिक्कतें भी कम नहीं झेलीं. भिखारी से जुड़े ढेरों पुराने लोग या तो मर चुके थे या वे बात करने की स्थिति में न थे. ऐसा ही एक बड़ा धक्का मुझे तब लगा, जब भिखारी के दल के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कलाकार लच्छन राय से मिलने झटके खाता जब मैं उनके गाँव हरपुर कराह टोला पहुँचा तो पता चला दस दिन पहले ही उनका देहान्त हो चुका है. तैयबजी के साथ माही नदी पर बाँस के फट्टे के बने पुल पर से गुजरते हुए बाँस का एक फट्टा टूट जाने पर माही नदी में गिरते-गिरते बचा, गहराती शाम में बबुश की पुरानी गंगा की थाह लेते हुए उस पार पहुँचा तो कोइलवर जाने के लिए कोई साधन न था. जैसे तैसे दूध वाली गाड़ी में लदकर कोइलवर पहुँचा तो आगे जाने के लिए न कोई ट्रेन थी, न बस. ठहरने के लिए कोई आश्रय भी नहीं और रात गाढ़ी हो रही थी. आधी-आधी रात को कोइलवर और विहटा में अकेले-अकेले भटकना और सीवान में शहाबुद्दीन के आपराधिक क्षेत्र में भटकते हुए स्टेशन के घुप्प अँधेरे में रात काटना और भी कितना कुछ! आज वह सारा भटकाव रोमांचित करता है.

अब समस्या थी इस संग्रहीत सामग्री में से सत्य का संधान करना. यह काम वैसा ही था जैसे तेजी से फॉसिल होते जा रहे तथ्यों से धातु का शोधन करना. जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ता रहा, नयी-नयी चीजें हाथ लगती गयीं, लेखकीय आत्मविश्वास आता गया. अब सवाल था, इतनी सारी सूचनाओं में से किन-किन्हें लूँ, किन्हें छोड़ूँ.

जीवनी लिखना इससे कहीं सरल कार्य होता, कारण, तब आप परस्पर विरोधी दावों के तथ्यों का उल्लेख कर छुट्टी पा सकते हैं. जीवनी परक उपन्यास में आपको औपन्यासिक प्रवाह बनाते हुए किसी मुहाने तक पहुँचना ही पड़ता है. यहाँ द्वंद्व और द्विधा का कोई गुंजाइश नहीं होती. दूसरी ओर, उपन्यास लिखना भी जीवनीपरक उपन्यास लिखने के मुकाबले सरल होता है, कारण, आप तथ्यों से बँधे हुए नहीं होते. यहाँ दोनों ही सुविधाएँ न थीं. भिखारी ठाकुर तीस वर्ष पहले तक जीवित थे, उन्हें देखने और जानने वाले लोग अभी भी हैं. सत्य आग्रहों के बीच उलझा हुआ था और भिखारी 'लीजेन्ड' बनते जा रहे थे मगर सत्य और तथ्य के ज्यादा से ज्यादा करीब पहुँचना मेरी रचनात्मक निष्ठा के लिए जरूरी था.

दूसरी चुनौती भाषा की थी. उपन्यास हिन्दी में लिखा जाना था और मेरे नायक की भाषा भोजपुरी थी. न ठेठ हिन्दी उपयुक्त थी न ठेठ भोजपुरी. सो मैंने दोनों का समंजन करना उचित समझा. अब दिक्कत भोजपुरी के स्वरूप को लेकर आयी. सौ साल पहले अंचल के लोग कैसी भोजपुरी बोलते होंगे? अर्द्धमागधी बोलियों का दबाव पूरब से पश्चिम की ओर बढ़ रहा था, सौ साल में वर्तमान से कितना पीछे लौटा जाय कि उसकी खुशबू को पकड़ा जा सके? मुझे लगा, इसका सही जवाब भिखारी के सिवा अन्य किसी के पास शायद ही मिले. सो मैंने उनकी पोथियों में प्रयुक्त भोजपुरी की उँगली पकड़ी.

तीसरी चुनौती देश, काल, पात्र की. मैंने उन्हीं घटनाओं और उन्हीं पात्रों को चुना जो भिखारी के व्यक्तित्व-कृतित्व को सक्षम ढंग से ध्वनित, चित्रायित और रूपायित कर सकते थे, और उस देश-काल के मन-मिजाज, बोली, बानी पर तरह-तरह से जाँच-परख की. कोई भी महत्त्वपूर्ण चरित्र छूट न जाय, उसके साथ अन्याय न हो, कोई महत्त्वपूर्ण घटना छूट न जाय, इसके लिए मैं भिखारी विशेषज्ञ डॉ. तैयब हुसैन 'पीड़ित', भिखारी के पौत्र राजेन्द्र जी रामदास राही और अन्य लोगों से उपन्यास सुना-सुनाकर जाँचता-परखता रहा. नाच के अलग-अलग रूप मैं बचपन से ही देखता आया था, कई बार पिटाई भी खायी थी, वे मेरी जेहन में थे. भोजपुरी की अलग-अलग किस्मों से मैं परिचित था. इतिहास, भूगोल, उम्र और काल के मैंने चार्ट भी बनाये ताकि उनकी संगति बैठाने में कोइ भूल न हो जाय. कभी लगा कि ब्राह्मण विरोध या सवर्ण विरोध कुछ ज्यादा हो गया तो उसे मैंने उनकी रचनाओं के आइने में तथा भिखारी की जगह स्वयं को रखकर जाँचा. सवाल सीधे-सीधे सबआल्टर्न का नहीं था, नारी मुक्ति का भी नहीं, नव जागरण का भी नहीं, पराधीन भारत के भोजपुरी अंचल के सांस्कृतिक मिजाज का भी नहीं. लेकिन एक भिखारी ठाकुर को उठाते ही सारे के सारे सवाल कुनमुनाकर ताकने लगे. अब मैं कह सकता हूँ कि वह एक युग था. भिखारी में डूबते हुए मैंने इस युग के ताप को काफी कुछ आत्मसात किया.

सन् 1857 के सिपाही विद्रोह के अवसाद, ब्रिटिश शासन, स्वाधीनता आन्दोलन, सामाजिक सांस्कृतिक नवजागरण और पुनर्जागरण काल से स्वातंत्र्योत्तर काल के सातवें दशक तक का काल सभी प्रदेशों में, सभी भाषाओं में एक से बढ़कर एक विभूतियाँ अवतरित हुईं. संक्रमण और संघात के घटना-बहुल इस युग में गँवई चेतना का भी एक उभार आया था, जिसे प्रायः अनदेखा कर दिया गया. साहित्य कला और संस्कृति में इस गँवई चेतना ने कतिपय ऐसे स्थलों को भी अपना उपजीव्य बनाया, जहाँ हिन्दी साहित्य की नजर तक न गयी ('बहती गंगा' जैसे अपवादों ने जो बाद में आये, उन्हें स्पर्श भर किया) गदर के शौर्य, भारतीय किसानों की दुर्दशा और गिरमिटिया या प्रवासी मजदूरों की हूक तत्कालीन भोजपुरी, अवधी और अन्य बोलियों में ही सुलभ है, हिन्दी में नहीं.

अगर मैं यह उपन्यास न लिखता तो इस कालखंड की कतिपय विभूतियों से प्रायः अनजान ही रहता. रचना प्रक्रिया रचनाकार को भी पुष्ट करती है. छपरा की पतुरिया 'गुलाबो', मुजफ्फरपुर की 'दला बाई', गोपालगंज (गोपालगंज) की ईरानी मूल की बहनें 'मुन्नी बाई' और 'दुनिया बाई' का युग, बरेली के 'पंडित राधेश्याम कथावाचक', मुरादाबाद के मास्टर 'फिदा हुसैन नरसी' का युग, बनारस के 'शंकर डांसर', सीवान के 'रसूल' और 'दरबारी गिरि', फकुली के 'वसुनायक सिंह', सोहरा के 'चादी सिंह'... और भी जाने कितने ही जगमगाते नक्षत्रों का युग जिनमें से ज्यादातर इतिहास में दर्ज हुए बिना ही अस्त हो गये.

अनेकानेक दिग्पालों, दिग्दर्शकों के इस युग में भोजपुरी भाषी जनता के सबसे चहेते, सबसे जगमगाते सितारे थे भिखारी, जिनके सौरमंडल के ग्रहों-उपग्रहों तक की कथाएँ भी मिथ बनती गयीं. ये सभी नान्ह जातियों और निचले वर्ग के सवर्ण थे, उपेक्षा के अपने-अपने नाटकीय दलदलों से ऊपर उठकर गीत-संगीत, नृत्य और अभिनय के क्षेत्रों में इन्होंने विरल से विरल और विशिष्ट से विशिष्ट प्रदान किये. सतह से ऐसे ही ऊपर उठता है आदमी.

अपने तमाम रचनाकार मित्रों, सुहृदों, दूर दूरस्थ ग्रामवासियों, कलामर्मज्ञों का मैं ऋणी हूँ, सबका नामोल्लेख भी सम्भव नहीं, जिनके सहयोग के बिना यह उपन्यास सम्भव न हो पाता. अन्दर-बाहर की यात्रा कर जो चित्र उकेर सका हूँ आपके सामने है. पक्का दावा नहीं कर सकता कि सत्य सिर्फ वहीं और उतना ही है, यह महज मेरे बोध और रचनात्मक विवेक की अभिव्यक्ति है. ■

● बी.डी.ओ. पाड़ा, कुलटी-713343